ऋषभायण में स्वात्मानुशासन व शान्तिपूर्ण सह–अस्तित्व का सन्देश

डॉ. सुनीता इन्दौरिया*

सारांश

ऋषभायण आचार्य महाप्रज्ञ द्वारा रचित एक कालजयी ग्रन्थ है। यह 18 सर्गों में विभक्त हिन्दी महाकाव्य के रूप में विद्वत् समाज में समादृत है। इस महाकाव्य के नायक ऋषभदेव हैं। ऋषभदेव हिन्दू परम्परा में भगवान् के एक विशिष्ट अवतार के रूप में श्रद्धेय रहे हैं। जैन परम्परा में तो इन्हें मानव संस्कृति के आद्य संस्कर्ता व आद्य निर्माता या विधाता माना गया है। इस महाकाव्य में आचार्य महाप्रज्ञ के 'कवि' व 'उपदेशक' दोनों रूप अभिव्यक्त हुए हैं।

इस महाकाव्य के माध्यम से आधुनिक मानव को व्यावहारिक जीवन–मूल्यों की महत्ता व उपयोगिता से परिचित कराया गया है।

ऋषभायण महाकाव्य में वर्णित स्वात्मानुशासन व शान्तिपूर्ण सह–अस्तित्व जैसे मूल्यों का सन्देश तत्कालीन परिस्थितियों में मानव मात्र के लिए समाधान की दिशा देने वाला था।

वे मूल्य वर्तमान सन्दर्भों में भी उतने ही प्रासंगिक हैं तथा मानव समाज को नई दिशा देने वाले हैं। ऋषभायण महाकाव्य में वर्णित इन मूल्यों को इस निबन्ध में निरूपित किया गया है।

प्रमुख शब्द : स्वात्मानुशासन, सह–अस्तित्व, ऋषभायण, मानव मूल्य।

---

* सहायक आचार्य, जैन विद्या एवं तुलनात्मक धर्म तथा दर्शन विभाग, जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ

प्रस्तावना

'ऋषभायण' आचार्य महाप्रज्ञ की तपःपूत लेखनी से प्रसूत एक कालजयी ग्रन्थ है। यह 18 संर्गों में विभक्त हिन्दी महाकाव्य के रूप में विद्वत्समाज में समादृत है। इस महाकाव्य के नायक ऋषभदेव हैं। ऋषभदेव हिन्दू परम्परा में भगवान् के एक विशिष्ट अवतार के रूप में श्रद्धेय रहे हैं, जैन परम्परा में तो इन्हें मानव–संस्कृति के आदि–संस्कर्ता, आदि–निर्माता माना गया है। इस वर्तमान अवसर्पिणी कालचक्र के प्रथम तीर्थंकर के रूप में भी इनका श्रद्धास्पद व्यक्तित्व मान्य रहा है। इस प्रकार, ऋषभदेव सांसारिक अभ्युदय व लोकोत्तर निःश्रेयस (मोक्ष) दोनों मार्गों के परमोपदेशक व पथप्रदर्शक रहे हैं। ऐसे अद्वितीय महापुरूष के समग्र जीवन और उनके सांस्कृतिक, राजनैतिक व आध्यात्मिक योगदान को आधार बना कर रचित यह महाकाव्य ऐहिक, पारलौकिक व लोकोत्तर सुख की प्राप्ति के लिए एक प्रेरणास्रोत साहित्यिक कृति के रूप में सर्वत्र समादृत है।

जीवन–मूल्य

आचार्य महाप्रज्ञ ने पूज्य गुरुदेव आचार्यश्री तुलसी के विशिष्ट निर्देश पर इस महाकाव्य का सृजन किया था। वह निर्देश था– ऋषभ पर एक ऐसा काव्य लिखो जो कोरा काव्य न हो, व्याख्यान भी हो, वह कोरा व्याख्यान ही न हो, काव्य भी हो।

अतः इस महाकाव्य में आचार्यश्री महाप्रज्ञ का 'कवि' व 'उपदेशक' दोनों रूप मुखरित हुए हैं। उन्होंने 'ऋषभायण' के माध्यम से आधुनिक मानव को व्यावहारिक जीवन–मूल्यों की महत्ता व उपयोगिता से परिचित कराया है। वस्तुतः ऋषभदेव ने असि, मषि, कृषि आदि षट्कर्मों के उपदेश के माध्यम से 'कर्मयुग' का प्रवर्तन किया था और मानव जाति को सर्वप्रथम 'पुरूषार्थ' का पाठ पढाया था। उन्होंने ही सर्वप्रथम पारिवारिक प्रथा, समाज–व्यवस्था, शासन–व्यवस्था, दण्ड–व्यवस्था व न्यायव्यवस्था का सूत्रपात किया था। बालक व बालिकाओं के शैक्षिक व बौद्धिक उन्नयन हेतु भी उन्होंने सक्रिय मार्गदर्शन किया था। इसी दृष्टि से जैन पुराणों में उन्हें प्रजापति, धाता, विधाता आदि से अलंकृत किया

गया है। भगवान् ऋषभ के जीवन पर आधारित इस महाकाव्य में काव्य–सौन्दर्य के साथ–साथ, व्यवहार–जीवनोपयोगी जीवन–मूल्यों का सन्देश भी यत्र–तत्र मुखरित हुआ है।

व्यावहारिक जीवन में सामान्यतः आने वाली प्रमुख समस्याओं के समाधान की दिशा को भी इस काव्य में इंगित किया गया है। उक्त जीवन–मूल्यों में स्वात्मानुशासन व सह–अस्तित्व का प्रमुख स्थान होता है। अतः इस काव्य में उक्त जीवन–मूल्यों का उपयोगी सन्देश यथाप्रसंग प्रस्तुत किया गया है। उक्त सन्देश को रेखांकित करना मेरे शोध–लेख का उद्देश्य है।

ऋषभदेव ने सर्वप्रथम राज्य–व्यवस्था का सूत्रपात किया। कर्मयुग की यह अत्यन्त अपेक्षा थी। सभी लोग शान्तिपूर्ण जीवन जीएं –इसके लिए उन्होंने प्रशासनिक सुरक्षा व्यवस्था को सुदृढ़ किया। उन्होंने राजकीय शासक वर्ग को चार वर्गों में बांटा– उग्र, भोज, राजन्य व क्षत्रिय। रक्षा का पूर्ण उत्तरदायित्व 'उग्र' पर था।

राज्य–व्यवस्था में सहयोगी एवं उचित मंत्रणा व परामर्श देने वाले 'भोज' कहे गये। समान वय व अधिकार से सम्पन्न व्यक्ति राजन्य थे और सामान्य अधिकारी 'क्षत्रिय' कहलाए। इन सभी व्यवस्थाओं में मूलतः 'स्वात्मानुशासन' की भावना अन्तर्निहित थी। सामान्य प्रजा हो या अधिकारी, सभी अपने–अपनी मर्यादा व दायित्व के निर्वहन में स्वतः आत्मानुशासित थे। ऋषभायण में कहा गया–

निज पर शासन, फिर अनुशासन,
शासन का यह मौलिक मंत्र।
अपने शासन से शासित था,
स्वयं ऋषभ का जीवन–तंत्र।[1]

स्वात्मानुशासन की प्रतिष्ठा होने पर, दण्डव्यवस्था औपचारिक हो जाती है। वहां इक्के–दुक्के ही अपराध होते हैं और उन्हें दण्डित करने की अपेक्षा होती है। ऋषभायण में भी कहा गया है–

आत्मा का शासन चलता तब,
दण्डशक्ति हो जाती व्यर्थ।

उच्छृंखलता में समझाती,
जनता को डंडे का अर्थ।।[2]

आचार्य महाप्रज्ञ ने स्वात्मानुशासन को स्वतंत्रता व जनतंत्रीय व्यवस्था का मूल आधार माना है। वे 'अमूर्त चिन्तन' में लिखते हैं–

"जनतंत्र का मूल आधार है– स्वतंत्रता और उसका मूल आधार है– व्यक्ति का आत्मानुशासन। जब कोई व्यक्ति अपने आप पर अपना नियंत्रण रख सकता है, तभी वह स्वतंत्रता की लौ प्रज्ज्वलित कर सकता है। अधिनायकता के युग में भय और आतंक का राज्य होता है, इसलिए व्यक्ति के आत्मानुशासन का विशेष मूल्य नहीं होता। जनतंत्र के युग में अभय का राज्य होता है, इसलिए उसमें आत्मानुशासन का मूल्य बढ़ जाता है।"[3]

उपर्युक्त विचारों के परिप्रेक्ष्य में कहा जा सकता है कि ऋषभ की राज्यशासन–व्यवस्था पूर्णतः जनतंत्रीय व्यवस्था पर आधारित यद्यपि नहीं थी, वहाँ 'एक राजा' का सार्वभौम नियन्त्रण था, तथापि जनतन्त्रीय व्यवस्था के सूत्र भी वहाँ प्रतिष्ठापित थे। "स्वात्मानुशासन' से अनुशासित जीवन में वहाँ सर्वत्र अभय व निरातंक की स्थिति थी। ऋषभायण के 18वें सर्ग में, उपसहांर रूप से भी कवि ने राज्य–व्यवस्था में आत्मानुशासन की प्रमुखता को स्वीकारा है–

राज्य की शिशु कल्पना में
कलकता शैशव रहा।
प्रमुख था आत्मानुशासन,
प्रकृति ने सब कुछ कहा।।[4]

स्वात्मानुशासन के भावों का पल्लवन प्रथम कुलकर के समय में ही हो चुका था। प्रथम कुलकर विमलवाहन के समय यौगलिक व्यवस्था अवसान की ओर अग्रसर थी। कल्पवृक्षों का ह्रास हो रहा था। उपलब्ध कल्पवृक्षों पर अपना अधिकार जताने की भावना उत्पन्न होने लगी और परस्पर–संघर्ष की आहट सुनाई देने लगी। सामान्य लोग (युगल) इस संकट के समाधान हेतु कुलकर विमलवाहन के समक्ष उपस्थित हुए और उनसे प्रशासन–सम्बन्धी मार्गनिर्देशन व नेतृत्व करने का अनुरोध करने

लगे। तब उन्होंने सभी के समक्ष आत्मानुशासन की महत्ता–उपयोगिता को इस प्रकार व्यक्त किया–

सब अपने–अपने नेता हैं,
फिर क्यों आवश्यक नेता?
अपनी मर्यादा अपना अनु–
शासन जन यदि कर लेता।।[5]

तथा–

निज पर शासन जब–जब घटता,
तब नेता लेता अवतार।
वही कुपथ जाने वालों का,
कर सकता है सहज सुधार।।[6]

नाभिराय कुलकर के समय कल्पवृक्षों के पूर्ण ह्रास की स्थिति आ चुकी थी। रोटी–कपड़ा–मकान की समस्या जटिल हो गई थी और परस्पर संघर्ष की स्थिति पनप रही थी। ऋषभायण में इस स्थिति का इस प्रकार चित्रण किया गया है–

उछल रही है युगल–जगत् में,
संघर्षों की चिनगारी।
अलसाई–सी मुरझाई–सी,
निज शासन की फुलवारी।।[7]

ऐसी स्थिति में ऋषभदेव ने कर्मयुग के अनुरूप 'पुरूषार्थ' का उपदेश दिया और असि, मसि, कृषि आदि षट्कर्मों के लिए प्रेरित कर भोजनादि की सुचारू व्यवस्था का समाधान प्रस्तुत किया।

स्वात्मानुशासित ऋषभकालीन राज्य–व्यवस्था की यह विशेषता थी कि सबके जीवन में 'मिठास' था, कहीं कटुता पल्लवित नहीं हो पा रही थी। एक विशेष घटना इस प्रसंग में उल्लेखनीय बन गई। ऋषभ देव पिता की गोद में बैठे क्रीड़ा कर रहे थे। शक्रेन्द्र हाथ में इक्षु (ईख) लेकर आया। ऋषभदेव ने उसे लेने के लिए हाथ आगे बढ़ाया। बालक का इक्षु के प्रति आकर्षण देखकर शक्र ने इस वंश को 'इक्ष्वाकु' वंश नाम से अभिहित किया। यह घटना भावी इक्षु जैसे मिठास वाली

शासन–व्यवस्था का पूर्व–संकेत थी– ऐसा माना जा सकता है। ऋषभायण में उक्त तथ्य इस प्रकार प्रस्फुटित हुआ है–

सरस भूमि रस का आकर्षण,
कण–कण में संभरित मिठास।
मनस मधुरिमा से आपूरित,
गगनधराव्यापी उल्लास।।
मधुर प्रकृति में काम्य मधुरतम,
इक्षुवाट पद–पद पर दृश्य।
सहज स्वयं अनुशासित जन में,
इक्षुदंड ही केवल स्पृश्य।।[8]

सम्राट भरत की राज्यप्रसार लिप्सा पर उसके भाइयों ने प्रश्नचिह्न उठाते हुए कहा– अन्य पर शासन या आधिपत्य थोपना ही 'शक्ति' की सार्थकता है? निज पर अनुशासन के साथ अन्य पर शासन करना तथा सब की सत्ता का आदर करना –यही सही विजय होती है। ऋषभायण में उक्त कथन का काव्यात्मक रूप इस प्रकार प्रस्तुत हुआ है–

क्या अर्थ शक्ति का औरों पर शासन है?
क्या यही सबल के मन को आश्वासन है?
निज पर शासन फिर अनुशासन की लय हो,
सब की सत्ता का आदर सही विजय हो।।[9]

सह–अस्तित्व :

कुलकरों ने तत्कालीन प्रजा को परस्पर सह–अस्तित्व का बोध दिया था। प्रथम कुलकर विमलवाहन ने कल्पवृक्षों के ह्रास की स्थिति में परस्पर सहयोग से उपलब्ध साधनों का उपयोग करने का परामर्श देकर समस्या का निराकरण किया था। ऋषभायण में कहा गया है–

कर कल्पवृक्ष का संविभाग सब बाँटें,
सुरभित गुलाब का पुष्प, भले हों कांटे।
है अल्प लब्धि, फिर भी सब मिल कर खाएं,
सिद्धान्त परस्परता का अब समझाएँ।[10]

आचार्य महाप्रज्ञ की दृष्टि में सह–अस्तित्व समता का ही अंग है। यह समता जैन धर्म की मूल भित्ति मानी जाती रही है।[11]स्याद्वाद,

अनेकान्तवाद या सापेक्षतावाद के माध्यम से सह–अस्तित्व का ही विस्तार के साथ प्रतिपादन हुआ है[12]। शान्तिपूर्ण सह–अस्तित्व के सूत्र को व्यवहार में प्रादुर्भूत करने के विषय में आचार्य महाप्रज्ञ के निम्नलिखित विचार मननीय हैं–

''व्यवहार के सदंर्भ में सह–अस्तित्व के तीन सूत्र हैं– आश्वास, विश्वास और अभय। जैन आगम प्रश्नव्याकरण में अहिंसा के सात नाम बतलाए गए हैं। वे उसके प्रत्येक पहलू को प्रकट करने वाले नाम हैं। उनमें तीन नाम हैं– आसासो, वीसासो, अभओ। सह–अस्तित्व सम्भव बनता है आश्वासन में। जहां आश्वासन हैं, एक व्यक्ति दूसरे में आश्वस्त है, कहीं भी अनाश्वासन जैसी बात नहीं है, वहां सह–अस्तित्व का विकास होता है। दूसरी बात है विश्वास की। एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति के प्रति विश्वास हो। तीसरी बात है अभय की। व्यक्ति तभी अभय बन सकता है, जब दूसरा व्यक्ति विश्वस्त हो, विश्वासी हो। विश्वास तब जागता है जब आश्वासन मिलता है। आश्वास, विश्वास और अभय– ये तीनों जुड़े हुए हैं। जब ये तीनों स्थितियां निर्मित होती हैं, तब सह–अस्तित्व का सूत्र व्यवहार में प्रादुर्भूत होता है[13]।

उक्त सह–अस्तित्व के भाव को दृढ़ करने में प्रथम कुलकर ने महत्त्वूपर्ण कार्य किया। इसी परम्परा को आगे के कुलकरों ने तथा तीर्थंकरों ने आगे बढ़ाया और जनता को शान्तिपूर्ण सह–अस्तित्व का पाठ पढ़ाया था। ऋषभायण में प्रथम कुलकर द्वारा इस दिशा में किये गये योगदान को स्पष्ट संकेतित इस प्रकार किया गया है–

युगल की प्रतिपालना
गोपाल बनकर कर रहा है।
योग का, सहयोग का
संस्कार सब में भर रहा है।।[14]

ऋषभदेव ने भी 'सह–अस्तित्व' की भावना को पल्लवित करने के लिए आश्वासन व विश्वास की भूमि को दृढ़ किया था। राजा का प्रथम दायित्व जन–जन में आश्वासन–विश्वास को स्थापित–प्रतिष्ठित करना होता है। ऋषभायण में कहा गया है–

आकुलता ने आश्वासन का वर पाया
वह आश्वासन ही फिर राजा कहलाया।।[15]

उन्होंने जन–जन में परस्पर–सहयोग की भावना को संवर्धित किया–

सहयोग परस्पर है प्राणी–प्राणी में
उसकी प्रतिभा प्रस्फुट वाणी–वाणी में।
केवल इंगित की मानवप्रवर! प्रतीक्षा
मानव–संस्कृति की होगी मंजुल दीक्षा।।[16]

जिस प्रकार, एक कड़ी से दूसरी कड़ी जुड़ कर लोहे की बड़ी श्रृंखला बन कर, महान भार को भी वहन कर सकती है, उसी प्रकार मानव–मानव में सह–अस्तित्व या परस्पर सहयोग की भावना वृद्धिंगत होती है, तब व्यावहारिक जीवन की सभी समस्याएँ सुलझ सकती हैं। ऋषभायण में कहा गया है–

आवश्यकता, आवश्यकता
नहीं अकेली का अस्तित्व।
कड़ी–कड़ी से होता निर्मित
अयस–श्रृंखला का व्यक्तित्व।।[17]

ऋषभ के शासन में सामान्य प्रजा में तो परस्पर–सहयोग की भावना का विकास था ही, राजा व प्रजा में भी परस्पर सहयोग का भाव निर्मित था। ऋषभायण में कहा गया है–

राजा और प्रजा का सुखकर
स्थापित प्रथम बार सम्बन्ध।
नाना रूचि, नाना चिन्तन का
एकसूत्र में रचित निबन्ध।।[18]

सम्राट् भरत भगवान् ऋषभ की स्तुति करते हुए उनके सामाजिक समरसता हेतु किये गये योगदान को इन शब्दों में अभिव्यक्त करते हैं–

प्रभुवर तुमने नव समाज में
किया प्राण का प्रतिसंचार।
दिव्य अलौकिक आभामण्डल

बना हुआ है जन–आधार।।
पारस्परिक उपग्रह संग्रह
संवेदन करूणा समभाव।
वर समाज की संरचना के
हेतु नियोजित ये प्रस्ताव।।[19]

निष्कर्ष

इस प्रकार, ऋषभायण में व्यावहारिक जीवन–मूल्यों, विशेषकर स्वात्मानुशासन व सह–अस्तित्व को, काव्य व ऋषभ–चरित के माध्यम से यत्र–तत्र प्रचारित प्रसारित–मुखरित किया है। इससे उनका कवि व व्याख्याता दोनों रूप अभिव्यक्त हुआ है।

संदर्भ सूची

1. आचार्य महाप्रज्ञ (1999). ऋषभायण, जैन विश्व भारती प्रकाशन, लाडनूँ,
2. ऋषभायण, पृ. 72
3. ऋषभायण, पृ. 69
4. ऋषभायण, पृ. 221
5. ऋषभायण, पृ. 305
6. ऋषभायण, पृ. 17
7. ऋषभायण, पृ. 18
8. ऋषभायण, पृ. 45
9. ऋषभायण, पृ. 74
10. ऋषभायण, पृ. 182
11. ऋषभायण, पृ. 20
12. अमूर्त चिन्तन, पृ. 193
13. अमूर्त चिन्तन, पृ. 188
14. अहिंसा के अछूते पहलू, पृ. 70
15. ऋषभायण, पृ. 25
16. ऋषभायण, पृ. 54
17. ऋषभायण, पृ. 56
18. ऋषभायण, पृ. 62
19. ऋषभायण, पृ. 71